विपश्यना

[साधकों का मासिक प्रेरणापत्र]

रजि. नं. १९१५६/७१

पोस्टल रजि. नं. NSK-64

वर्ष ९ • बम्बई • बुद्धवर्ष २५२३ • श्रावण पूर्णिमा [शक] • दि. ७-८-१९७९ • अंक २

धम्मगिरि पर पावस ऋतु

पावस की रमण्य ऋतु आयी। धम्मगिरि का पर्वत-प्रदेश प्रकृति की भुवन-मोहिनी मनोरमा से महिमामंडित हो उठा। ग्रिष्म के उत्ताप से उत्तप्त शैल-शिलाएं पिघल-पिघलकर बहने लगी। सह्याद्रि पर्वत द्रवीभूत हो उठा। शिखर श्रृंगों से अनेकानेक झरने फूट पड़े। वर्षा के जल से शुष्क धरती तराबोर हो उठी। नीची भूमि ताल-तलैयों से भर उठी। ऊंची मुलायम मखमली घास से तरु-तृणों की हरीतिमा पुष्प पल्लवों की रंगीनियां पार्वती पृथ्वी के साज-श्रृंगार करने की होड़ में लग गई। अकिंचन आकाश शून्यता के दारिद्रय से उन्मुक्त हुआ। दिशाओं के ओर-छोर तक नीरभरे नीरद ही नीरद, परजन्य ही परजन्य भर गए। मेघ-मालाओं की संपद् संपन्नता से, श्री-समृद्धि से गगनमंडल की गरिमा गौरवान्वित हो उठी। कहीं रिक्तता नहीं, क्षुद्रता नहीं, सूनापन नहीं, उदासी नहीं, मायूसी नहीं। धरती और आकाश पर सर्वत्र वैभव विलास, उल्लास-उमंग और वर्षामंगल का उत्सव ही उत्सव।

उन्मुक्त अठखेलियां करती हुई प्रकृति का आमोद-प्रमोद असीम हो उठा। पल-पल परिवर्तित। अभी कोमल, अभी कठोर। अभी सूक्ष्म अभी स्थूल। समीपवर्ती खेतों में उगी हुई घास में मनोमुग्धकारी लहरियां पैदा करता हुआ और खुशियों की किलकारियां भरता हुआ पवन देखते-देखते अट्टहास करते हुए प्रबल प्रभंजन का रुप धारण कर लेता है और उत्तर की ओर स्थिर सुमेरु पर्वत पर से गिरने वाले जल-प्रपातों की जल-राशि से कंदुक-क्रीडा करने लगता है। उसे आकाश की ओर उछालता है। वर्षा की श्रुति-मधुर रिम-झिम किसी दिव्य अप्सरा के नर्तन-थिरकन से निःसृत नूपुर पायलों की सी रुनन-झुनन पैदा करती है। और यकायक इसी मधुर झंकार के बीच दक्षिणी क्षितिज से एक भीम-भैरव गड़गड़ाहट आती है और सारे अंतरिक्ष को प्रकंपित करती हुई उत्तर के सुमेरु पर्वत को पार कर जाती है। पृथ्वीतल पर दादुर मंडली का समवेत सुर-आलाप चलता है और इसी बीच अचानक दिल-दहला देने वाली कर्णभेदी बिजली कडकडा उठती है। दिन दोपहर में भी सारे वातावरण पर निविड़ निशा की सी तमिश्रा चादर तनी रहती है और क्षण भर में समग्र धरती आकाश विद्युत की चपल चमक से चौंधिया उठता है। यूं प्रकृति क्षण-क्षण अपना वेश बदलती रहती है। इस गिरिप्रदेश की विस्तृत रंगभूमि पर नियति-नटी नई-नई नृत्य मुद्राएं, नई-नई भाव-भंगिमाएं प्रकट करती रहती है। नई-नई वेशभूषा, नई-नई साज-सज्जा, नई-नई सीन सिनेरियां, नए-नए वाद्य-वृन्द प्रकट करती रहती है। पावस के वैभव में धम्मगिरि के पर्वत प्रदेश का संपूर्ण परिवेश प्रतिपल प्राणवंत बना रहता है।

और ऐसे में शांति पठार का धर्म चैत्य मानो बांह पसार कर साधकों का आह्वान करता हुआ करता है- "आओ, ऐ दुनियावी दुख-दर्द से प्रपीडित मानवो! आओ! मेरी शांतिदायिनी गोद में आओ! मेरे अंक में समाओ! मेरे भीतर गिरि-गुहाओं सदृश इन नवनिर्मित शून्यागारों में शरण लो। पालथी मार कर, कमर सीधी करके बैठो। प्रकृति का जो प्रपंच बाहर देखा है अब उसे भीतर देखो। अन्तर्मुखी होकर यथाभूत दर्शन करो! प्रत्यक्षानुभूति द्वारा अनित्य बोध जगाओ! विपश्यना करो। विपश्यना करो! विपश्यना करो! और अपना मंगल साधो।

सचमुच पावस ऋतु और पर्वतप्रदेश ध्यान के लिए अत्यंत उपयुक्त है। ऐसे में ध्यान का आनंद स्वभावतः अपरिमित हो उठता है। बुद्धकालीन विपश्यी साधकों के हृदयोद्गार पावस ऋतु में पर्वत

ध म्म वा णी

यदा वितक्के उपरून्धियत्तनो,
नगन्तरे नगविवरं समास्सितो ।
वीतद्दरो वीतखिलो व झायति
ततो रतिं परमतरं न विन्दति

थेर गाथा ५२५

जब कोई साधक किसी पर्वत-प्रदेश की गिरि-गुहा में निर्भय और निर्बाध होकर सम्यकरुप से ध्यान के आश्रित होता है और अपने वितर्कों को शांत कर लेता है तो उससे बढ़कर परमानंद की अनुभूति नहीं होती।

पर ध्यान करने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करते हैं। ऐसा एक साधक अपना प्रत्यक्ष अनुभव प्रकट करता हुआ कहता है—

" यदा नभे गज्जति मेघदुन्दुभि,
धाराकुला विहगपथे समन्ततो ।
भिक्खू च पब्भारगतो व झायति,
ततो रतिं परमतरं न विन्दति ॥

जब गगन में मेघदुन्दुभि बज रही हो, समग्र विहगपथीय आकाश जलधारा कही जलधारा से भर उठा हो, ऐसे समय जब कोई साधक गिरि–गह्वर में ध्यान करता है तो चित्त-एकाग्रता से प्राप्त उस परम आनंद से बढकर और कोई आनंद नहीं होता।

पार्वतीय पावस साधक को सदा प्रिय लगता है। क्योंकि ऐसे मनोरम वातावरण में मन खूब ध्यानस्थ होता है। एक साधक अपने अनुभव के उद्‌गार प्रकट करता हुआ कहता है।—

" अभिवुट्ठा रम्मतला , नगा इसिभि सेविता ।
अब्भुन्नादेता सिखी हि , ते सेला रमयन्ति में ॥

मयूरों के कूजन से अभिगुंजित, ध्यानी ऋषियों द्‌वारा सेवित, वर्षाजल से सिंचित रमणीय पर्वत–प्रदेश मुझे अत्यंत प्रिय है।

सचमुच पावस की ऋतु और पावन पर्वतीय तपोभूमि एकांत ध्यान के लिए अत्यंत अनुकूल होती है। तभी तो साधक का मन ऐसी सुविधा के लिए लालायित हो उठता है। पूर्वकाल के एक ध्यानी की ललक है—

" कदा नु मं पावुस काल मेघो,
नवेन तोयेन सचीवरं बने ।
इसिप्पयातम्हि पथे वजन्तं,
ओवस्सते तं नु कदा भविस्सति ॥

ऋषियों के चले हुए आर्यमार्ग का अनुसरण करते हुए (विपश्यना ध्यान करते हुए) मेरे वस्त्र वर्षा के नवल जल से कब भीगेंगे ? मेरी यह मंगल अभिलाषा कब पूरी होगी ?

बरसती वर्षा के समय गड़गड़ाते बादलों के तले ध्यानगुहा में एकाकी विहार करते हुए साधक को कितना संतोष अनुभव होता है–

" देवो च वस्सति, देवो च गलगलायति ।
एकाको चाहं भेरवे बिले विहरामि ॥

पर्जन्यदेव बरसता है, पर्जन्यदेव गड़गड़ाता है और मैं एकाकी भैरवगुहा में विहार करता हूँ। ऐसे समय साधक अपने चित्त को उत्साहित करता है कि,

हे चित्त तुम—

" पब्भारकुट्टे पकते व सुन्दरे ।
नवम्बुना पावुससित्थकानने,
तहिं गुहागेहगतो रमिस्ससि ॥

प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर पर्वत प्रदेश में पावस ऋतु के नवल जल से सिंचित वन में, किसी गिरी गुहा को घर बनाकर रमोगे और

" भिगो यथा सेरि सुचित्तकानने,
रम्मं गिरिं पावुसअब्भमालिनिं ।
अनाकुले तत्थ नगे रमिस्सं,
असंसयं चित्त परा भविस्ससि ॥

जिस प्रकार सुंदर कानन में उन्मुक्त मृग विचरण करता है उसी प्रकार पावस ऋतु की मेघमालाओ से रमणीय पर्वत पर आकर तुम व्याकुलता मुक्त होकर रमण करोगे और ए मेरे चित्त ! निः संदेह तुम भव-पार हो जाओगे।

भव पार होने के लिए ही तो एकांतीय पर्वतवास हैं। क्योकि वर्षा ऋतु में सम्मक रुपेने ध्यान करने पर --

" यथा अब्भानि वेरम्भो, वातो नुदति पावुसे ।
सञ्ञा मे अभिकिरन्ति, विवेकपाटिसञ्ञुता ॥

जिस प्रकार पावस ऋतु में झंझावात मेघों को उडा ले जाते हैं. उसी प्रकार मेरे चित्त से भव-संज्ञा दूर होती है और मन निष्कामता से भर उठता है।

यह पावस के ध्यान की ही महिमा है कि --

" धरणी च सिञ्चति वाति, मालुता विज्जुता चरति नभे ।
उपसमन्ति वितक्का, चित्तं सुसमाहितं ममा ॥

वर्षा धरती को सींच रही है. हवा बह रही है. आसमान मे बिजली चमक रही है. ऐसे में ध्यान करते हुए मेरा मन वितर्क-विहीन हो गया है। मेरा चित्त सुसमाहित हो गया है।

परम आनंद की उपलब्धि होती है ऐसी ध्यान भावना में। तभी तो किसी विदर्शी विपश्यी ने हर्षोद्‌गार प्रकट करते हुए कहा --

" यदा निसीथे रहितम्हि कानने,
देवे गलन्तम्हि नदिन्त दाठिनो ।
भिक्खू च पब्भारगतो व झायति,
ततो रतिं परमतरं न विन्दति ॥

जब वर्षा के बादल गड़गड़ाते हों – जैसे हाथी चिघाडते हों, तब कोई साधक पर्वत गुफा में ध्यान भावना करता है उसे जिस परमानंद का अनुभव होता है। उससे बढकर और कोई आनंद नही होता।

सचमुच " सब्बरतिं धम्मरतिं जिनाति " सारे आनंदों से बढकर धर्म का आनंद है।

इसी आनंद के लिए ही तो वर्षाकाल और एकांत गुहा के ध्यान का महत्व है। इसी के लिए विपश्यी साधक धर्म कामना करता है--

" कदा नुहं पब्बतकन्दरासु,
एकाकियो अद्‌दुतियो विहस्सं,
अनिच्चतो सब्बभवं विपस्सं,
तं मे इदं तं नु कदा भविस्सति ॥

मैं पर्वतगुहा में, बिना किसी दूसरे के, कब अकेला विहार करूँगा ? कब सारे संसार के प्रति अनित्यबोधिनी विपश्यना करूंगा ? मेरी यह धर्म अभिलाषा कब पूरी होगी ?

अनित्य बोधिनी विपश्यना के लिए ही शांतिपठार के धर्म चैत्य का धर्म आह्वान है--

"आओ, जो बाहर है उसे ही भीतर देखो। यथाभूत देखो, यथातथ्य देखो, यथास्वभाव देखो। अनिच्चवत संखारा, अनिच्चवत संखारा। अनिच्च, अनिच्च, अनिच्च। अनित्य है, अनित्य है, अनित्य है। जो बनता है वह बदलता ही है!"

बाहर आकाश में बादल उमड़ते-घुमड़ते है। उपवन में पवन आन्दोलित होता है। वृक्ष झूमते हैं। टहनियां झुलती हैं। पत्ते फरफराते हैं। दूर्वादल लहलहाते है। सर्वत्र अस्थिरता ही अस्थिरता नजर आती है। इसी प्रकार भीतर भी सर्वत्र अस्थिरता ही अस्थिरता, आन्दोलन ही आन्दोलन हलन-चलन ही हलन-चलन महसूस होती है। बाहर उत्तर की ओर के सुमेरु पर्वतकी खड़ी चट्टानी दीवार से झर-झर झरने झरते हैं। इसी प्रकार भीतर भी अनित्य बोधिनी चैत्यन्य गंगा सिर से पांव तक झरझराती रहती है। बाहर सारी धरती पर बूंदा-बूंदी हो रही हैं। भीतर भी इसी प्रकार स्पन्दनो की बूंदा-बूंदी चल रही है। बाहर के ताल-तलैयों पर वर्षाजल के बुदबुदे बनते है और तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। भीतर भी इसी प्रकार बुदबुदे उत्पन्न होते है और प्रतिक्षण नष्ट होते हैं। बाहर बहती हुई जलधाराओं में नन्ही-नन्ही उर्मिया लहराती चलती हैं। भीतर भी इसी प्रकार लहरियां ही लहरियां उर्मिया ही उर्मिया उत्पाद-व्यय ही उत्पाद-व्यय उदय-व्यय ही उदय-व्यय। " यतो-यतो सम्मसति खंदानं उदयव्ययं", बाहर घनीभूत बादल छा जाते हैं, भीतर भी भावावेश का घना कुहरा छा जाता है। बाहर देखते-देखते बादलों की सघनता विदीर्ण होती है। हवा उन्हे तितर-बितर कर देती है। इसी प्रकार भीतर भी अनित्य बोधिनी प्रज्ञा का पवन भावावेश की घनसंज्ञा विदीर्ण करता है। बाहर बादल हटते ही शून्य आकाश की वास्तविकता प्रकट होती है। भीतर भी इसी प्रकार संस्कारों के बादल फटते ही माया दूर होती है और यथार्थ का शून्याकाश प्रकट होता है। बाहर का आकाश बादलों से मुक्त हो जाता है। वैसे ही भीतर का चित्ताकाश आश्रवों से मुक्त हो जाता है। धुलकर नितांत विरज-विमल हो जाता हैं।

यूं बाहर से भीतर की ओर प्रवेश करते हुए विपश्यी साधक को प्रभूत प्रेरणा मिलती है। जब उसका चित्त विपश्यना से पूरी तरह सुभावित हो जाता है तो वह देखता है कि उसके चित्त में राग नहीं पैठ सकता। ठीक वैसे ही जैसे कि ठीक से छाई हुई छत में वर्षा का जल प्रवेश नहीं पा सकता।

"यथागारं सुच्छन्नं वुट्ठी न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति॥

और ऐसी सुस्वस्थ चित्त अवस्था में विपश्यी साधक उन्मुक्त होकर गा उठता हैं --

"छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता, वस्स देव यथासुखं।
चित्तं मे सुसमाहितं विमुत्तं, आतापी विहरामि वस्स देवा॥

मेरी कुटी छायी है, सुखदायी है, हवा-पानी से सुरक्षित है, परजन्य देव! अब तुम चाहो तो जी भर बरसो।

मेरी चित्त सुसमाहित है. राग से विमुक्त है. मैं तापस जीवन जीता हू। बरसो! बरसो! हे परजन्य देव! अब तुम चाहो तो जी भर बरसो!!

धन्य है पावस ऋतु! धन्य है पर्वत प्रदेश! धन्य है परिवर्तनशील प्रकृति! धन्य है धम्मगिरि! धन्य है शांतिपठार! धन्य है धर्म-चैत्य और धर्मचैत्य की ध्यान गुफाएं! धन्य है विपश्यना साधना जिसे साधकर धन्य हो उठते है विपश्यी साधक!!

धर्मसाथी
स. ना. गो.

बीरगंज (नेपाल) के श्री गजानंद मस्करा जो कि अब तक कई शिविरों में भाग ले चुके हैं, लिखते हैं, "विपश्यना पत्रिका मिली। आपका लेख बडा ही सारगर्भित है। लोग अपने पैरों पर चलने की चेष्टा करेंगे। आप पर सचमुच हम लोगों की श्रद्धा अंधभक्ति में बदलती जा रही थी। (गरूडम) पर आपके इस लेख से जरूर कुछ अंतर पड़ा है परन्तु हम भारतीयों में अंधश्रद्धा के कुछ गहरे ही संस्कार हैं।...

साधना ठीक चल रही है। सवेदना अब और भी स्पष्ट तथा एकाग्रता बढ़ी है। चित्त अब एकाग्र होने में उत्पात कम करता है। जब भी ध्यान भावना का चिंतन करता हूँ तभी संवेदना बड़ी स्पष्ट तथा एकाग्रता भी गहरी हो जाती है। अब तो ध्यान भावना के लिए चेष्टा नहीं करनी पडती। समय पर आप ही जागृति हो आती है। एक दिन काम-धंधे में देर हो जाने कारण देर से साधना में बैठा तो और भी अच्छी एकाग्रता हुई। इससे लगता है कि अपने आप तो छूटने से रही हां जानबूझकर छोड़ना चाहें तो बात अलग है। बड़ी मधुर और प्रीतिकर है यह साधना। हम दोंनो (धर्मपत्नी तथा मैं) नित्य ही धर्म-गंगा में डुबकी लगाते हैं। मेरा चित्त काफी शांत है।"

इगतपुरी में स्वयं-शिविर

क्रमांक	४५	,,	११-८-७९	से	२१-८-७९ तक
,,	४६	,,	२१-८-७९	से	३१-८-७९ ,,
,,	४७	,,	१-९-७९	से	११-९-७९ ,,
,,	४८	,,	११-९-७९	से	२१-९-७९ ,,

संपर्क : व्यवस्थापक, विपश्यना विश्व विद्यापीठ, धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२४०३. (नासिक-महाराष्ट्र) फोन नं. ७६.

सूचना : १) स्वयं-शिविर में केवल वे **पुराने साधक** ही सम्मिलित हो सकेंगे जो कि विद्यापीठ की अनुशासन-संहिता का आत्मविश्वास के साथ कड़ाई से पालन कर सकें।

२) कोई साधक यदि पूरे शिविर में सम्मिलित न हो सके तो वह अपनी सुविधानुसार बीच में कम दिनों के लिए भी सम्मिलित हो सकता है।

३) प्रत्येक अवस्था में आवश्यक है कि व्यवस्थापक से अपना स्थान सुरक्षित रखने की पूर्व स्वीकृति प्राप्त कर लें।

४) स्वयं शिविर में अन्य सभी सुविधायें उपलब्ध रहेंगी।

आगामी शिविर

क्रमांक	१६५	OXFORD,	इंगलैंड	,,	९–८–७९ से २०–८–७९ तक
,,	१६६	,,	,,	,,	२१–८–७९ से १–९–७९ तक
,,	१६७	,,	,,	,,	४–९–७९ से १५–९–७९ तक

सम्पर्क : Susan & Graham Owens 14 Send Road Caversham, Reading, Berks, England.

विशेष : १) पूज्य गुरुजी के उपरोक्त कार्यक्रम विदेशों में निश्चित हैं। विगत २९ जून को वे भारत से प्रस्थान कर चुके हैं तथा अब तक फ्रांस और कनाडा में तीन शिविर सम्पन्न हो चुके हैं यह सूचना इसलिए प्रसारित है कि उस ओर विदेशों में जिन भारतीय साधकों के कोई मित्र परिचित हों और इन शिविरों में से जो अनुकूल पड़ता हो उसमें वे सम्मिलित हुआ चाहें तो उन्हें समय रहते सूचना मिल जाय।

२) विदेशों में पुराने साधकों के बहुत बड़े आग्रह के बावजूद पू. गुरुजी उन्हें थोडा समय दे पा रहे हैं। इंगलैंड के अंतिम शिविर के पश्चात् उन्हें तुरंत भारत लौटना अनिवार्य है। अतः स्थानीय साधकों की ही मांग पूरी होनी मुश्किल है। फिर भी जो भारतीय शिविरार्थी किसी शिविर में सम्मिलित होना चाहें, उन्हें चाहिए कि तुरंत अपनी बुकिंग करा लें अन्यथा स्थान मिलना कठिन होगा।

क्रमांक	१६८	जैपुर	२७–१०–७९ से ७–११–७९ तक (हिन्दी)

सम्पर्क : श्री श्यामसुन्दर मूंदडा द्वारा – विपश्यना समिति, जी–१/ए, अशोक मार्ग, जयपुर–३०२००१. फोन–कार्या. ६५४१४ घर–६३३२२

तोषणीवाल ब्रदर्स प्राइवेट लिमिटेड

१९८ जमशेदजी टाटा रोड, बम्बई–४०० ०२०.

की मंगल कामनाओं सहित।

दूहा धरम रा

सदा बदलतो ही रवै, इब छायां इब धूप।
कदे एक सो ना रवै, ई धरती को रुप॥
रूप रूप तो सब कवै, अरथ न समझै कोय।
नस्ट हुवै सो रुप है, रुपिया ध्रुव कद होय॥
गोरी गोरी चाम है, चिकणी चिकणी खोळ।
भीतर सड़ता नरक है, मनकी आंख्यां खोल॥
केमैं पग हूं? हाथ हूं? आंख? नाक? मुंह? जीभ?।
हाड, मांस या चाम हूं? खून, राद या पींप॥
मैं मैं मैं करतो रयो, समझ न पायो मूढ़।
ज्यूं ही अन्तरमुख हुयो, प्रगट्यो सत्य प्रगूढ॥
बाहर बाहर भटकतां, मिलै न सच का सार।
हो अन्तरमुख मानखा, अपनी ओर निहार॥

दोहे धरम के

नन्हा सा परमाणु कण, या विशाल ब्रह्माण्ड।
नश्वर ही है मिट्टी कण, या मिट्टी का भाण्ड॥
भूमंडल, ग्रह, उपग्रह, सूर्य, चंद्र नक्षत्र।
सभी मृत्यु आधीन हैं, नश्वरता सर्वत्र॥
शीत–ताप वर्षा–पवन, इनका पड़े प्रभाव।
विकृत होय, विनष्ट हो, ऐसा रुप स्वभाव॥
देखो अपने आपको, समझो अपना आप।
अपने को जाने बिना, मिटे नै भव–संताप॥
परम सत्य कल्पित नहीं, यथाभूत ही होय।
करे विभाजन स्थूल का, सूक्ष्म प्रकट तब होय॥
रुप देख मत उलझ रे, यह धोखे का जाल।
सुंदर चिकने चाम के भीतर नर कंकाल॥

सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट के लिए मुद्रक, प्रकाशक एवं संपादक : **रामप्रताप यादव**, ग्रीन हाऊस, २ री मंजिल, ग्रीन स्ट्रीट, फोर्ट, बम्बई २३. टेलीफोन : ३१३५१०. ● मुद्रण स्थान : अक्षरचित्र मुद्रणालय, सातपुर, नासिक ४२२ ००७. टेलिफोन ८२५१ ●

पत्रिका में विज्ञापन दर : आधा पृष्ठ रू. ४००/–, चौथाई पृष्ठ रू. २०० /– ● वार्षिक शुल्क रू. ५/–, आजीवन शुल्क रू. ५१/–

"विपश्यना"

पो. रजि. नं. NSK-64

License No. NS 18
Licensed to post without pre-payment

प्रेषक :
सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट
विपश्यना विश्व विद्यापीठ
धम्मगिरि, इगतपुरी–४२२ ४०३.
(नासिक, महाराष्ट्र)

To